

## शिक्षा का समाजशास्त्रीय नजरिया डॉ. अमन मदान के साथ विश्वंभर की बातचीत

शिक्षा का समाजशास्त्र स्कूल को सक्रिय सामाजिक संस्था मानते हुए शैक्षिक प्रक्रियाओं पर पड़ रहे राजनैतिक-सामाजिक-आर्थिक दबावों और उसके परिणामस्वरूप निर्मित होने वाली शिक्षा व्यवस्था के बारे में महत्वपूर्ण अन्तःदृष्टि प्रदान करता है। इस साक्षात्कार में समाज में शिक्षा की भूमिका एवं कुछ अन्य मुद्दों को समाजशास्त्रीय नजरिए से समझने का प्रयास किया गया है। अमन मदान इस बात को जोर देकर कहते हैं कि शिक्षा सिर्फ सामाजीकरण का जरिया नहीं है बल्कि शिक्षा को आलोचनात्मक चिन्तन और सशक्तीकरण का कार्य करना चाहिए। उनका मानना है कि अन्तर-अनुशासनीय दृष्टि से किए जाने वाले शोध ही समाज के बारे में ज्यादा बेहतर समझ प्रदान कर सकते हैं।

**प्रश्न :** मेरा पहला सवाल समाज में शिक्षा की भूमिका से जुड़ा है। जब भी हम शिक्षा की बात करते हैं तो एक सवाल यह आता है कि हम शिक्षा को देखते किस नजर से हैं या परिभाषित कैसे करते हैं ? समाजशास्त्री की हैसियत से आप समाज में शिक्षा की भूमिका और शिक्षा के उद्देश्यों को किस रूप में देखते हैं ?

**अमन :** शिक्षा सामाजीकरण के साथ ही समाज में लोगों की भूमिका तय करने का काम करती है। लेकिन सिर्फ इतना ही नहीं, शिक्षा लोगों में आलोचनात्मक चिन्तन की क्षमता का विकास और साथ ही सशक्तीकरण का भी काम कर सकती है; जो न तो सामाजीकरण है और न ही लोगों की भूमिका तय करना है। बल्कि इसमें-सामाजीकरण और भूमिका तय करने में- दोनों को ही ऊपर उठाना शामिल है। हालांकि ये एक संभावना भर है लेकिन आमतौर पर शिक्षा यह काम नहीं ही करती। फिर भी इसकी संभावना अवश्य है। दुर्भाग्य से शिक्षा के हमारे परम्परागत ढांचे में यह स्थिति बिल्कुल ही नहीं होती जिसमें लोग अपने संदर्भ के बारे में बेहतर समझ बना सकें और उसके वृहत्तर पहलुओं को समझ सकें या जिसमें शिक्षा लोगों को उन वृहत्तर पहलुओं से लड़ने में सहायक बना सके। वास्तव में यही सशक्तीकरण की शिक्षा हो सकती है और समाजिक विज्ञान इसमें एक अहम भूमिका निभा सकते हैं। जैसे दार्शनिक 'संभव मूल्य व्यवस्था' को एक अलग नजरिए से देखते हैं, वैसे ही एक समाज वैज्ञानिक इनको किसी समाज के परिप्रेक्ष्य में देखता है कि विभिन्न समाजों की शिक्षा में अलग-अलग मूल्य व्यवस्था और उद्देश्य पाए जाते हैं। उदारवादी एक तरह का नजरिया रखते हैं तो दूसरे कुछ अलग प्रकार का। कुछ लोगों का तर्क है कि अलग-अलग समाजों की मूल्य व्यवस्थाओं को समेकित करके एक मूल्य व्यवस्था बनाना संभव नहीं है। दूसरी ओर एक मूल्य व्यवस्था की दृष्टि से किसी दूसरी को पूरी तरह से अवैध भी नहीं कहा जा सकता है। लेकिन इसमें एक मूलभूत समस्या है।

समाजशास्त्री मूलतः दो प्रस्थान बिन्दु लेकर चलते हैं। एक, जिसमें वे दार्शनिकों द्वारा बताए गए सामाजिक मूल्यों- जैसे समानता और स्वतंत्रता- को यथावत् मानकर उन

### लेखक परिचय :

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय से समाज विज्ञान में पीएचडी, संप्रति : आईआईटी, कानपुर में समाज विज्ञान के सह-प्रोफेसर।

### सम्पर्क :

मानविकी और समाज विज्ञान विभाग, इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी (आईआईटी), कानपुर-208016 उत्तरप्रदेश  
Email - amman@iitk.ac.in

समस्याओं को तलाशने के लिए अध्ययन करते हैं जो इन (मूल्यों) की वजह से उत्पन्न हुई हैं। दूसरे, ये मानकर चला जाता है कि किसी भी समाज में एक मूल्य व्यवस्था तो होगी ही और समाजशास्त्री और नृतत्वशास्त्री उस मूल्य व्यवस्था को समझने और उसकी व्याख्या करने की कोशिश करते हैं। इस तरह ये दो तरीके हो गए। एक, जिसमें यदि कोई किसी समाज का अध्ययन करना चाहता है तो वह अपने मूल्यों को पहचाने और उसके आधार पर उस समाज का अध्ययन करे और दूसरे, आगमनात्मक तरीके से यह पहचानने का प्रयास करे कि उस समाज की मूल्य व्यवस्था आखिर है कैसी। और उसके आधार पर ही ये खोजने का प्रयास करे कि उस मूल्य व्यवस्था को शिक्षा के माध्यम से कैसे प्रसारित किया जा रहा है और इस व्यवस्था के अंतर्विरोध क्या हैं ? ये दो वे मुख्य तरीके हैं जिनसे लोग शिक्षा के उद्देश्यों के बारे में अध्ययन करते हैं। इसलिए दार्शनिकों का शिक्षा की भूमिका पर असहमत होना संभव है और ये भी संभव है कि सभी समाजशास्त्री शिक्षा की भूमिका को एक ही तरह से न देखें।

किसी भी समाज में किसी मूल्य व्यवस्था के क्या प्रभाव पड़ रहे हैं और शिक्षा के उद्देश्यों और उसको व्यवहार में लाने के बीच किस तरह के द्वंद्व उभर रहे हैं ? वे उद्देश्य किस तरह पूरे किए जा रहे हैं अथवा नहीं हो पा रहे हैं ? समाज में किस तरह के सामाजिक दबाव बन रहे हैं और ये दबाव किन मूल्यों का बढ़ावा दे रहे हैं और किन मूल्यों को दबाने का प्रयास कर रहे हैं ? ये कुछ ऐसे सवाल हैं जिस पर हम समाजशास्त्री अध्ययन कर सकते हैं।

**प्रश्न :** आपने अनौपचारिक बातचीत में कहा था कि मैं समाज विज्ञान के उस 'स्कूल' से संबंध रखता हूँ जो राजनीति विज्ञान, सामाजिक विज्ञान और दर्शन को अलग करके नहीं देखता। एक दृष्टि से यह सही है कि समस्याओं को अन्तर-अनुशासनात्मक नजरिए से देखा, परखा जाए। लेकिन क्या विषयों की प्रकृति का फर्क इसमें बाधा नहीं बनता ? समाज विज्ञान में आंकड़ों और अनुभवात्मक पद्धति के आधार पर निष्कर्षों की बात की जाती है तो दूसरी तरफ दर्शन में निगमनात्मक तरीकों और मानदण्डों (नॉरमेटिव) की बात करते हैं। इनके संबंधों को कैसे समझा जाए ?

**अमन :** ये ज्ञान के निश्चित वर्गीकरण की ओर इशारा करता है जो उन्नीसवीं सदी के उस दौर में सामने आया जब दुनिया के अधिकांश हिस्से पर औपनिवेशिक देश काबिज थे। यह वह समय भी था जब ये विषय अलग-अलग अनुशासनों के रूप में विश्वविद्यालयों में अपनी जगह बना रहे थे। हमारी नजर दरअसल है किस पर ? अनुशासनों के उस रूप पर जो अभी तक ठीक से तर्कों के आधार पर पूरी तरह परिभाषित भी नहीं किए जा सके हैं या उस रूप पर

जिसे हमारे विश्वविद्यालयों में लागू कर दिया गया है। लेकिन हम इस बिन्दु से पहले चल रहे काम पर नजर डालें। इमैनुअल वॉल्सटाइन बताते हैं कि अनुशासन के रूप में विश्वविद्यालयों में आने से पहले समाजशास्त्र में किस तरह का काम हो रहा था। समाजशास्त्र का विश्वविद्यालयी व्यवस्था में पदार्पण उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दौर में हुआ। उस दौर पर नजर डालें तो हम देखते हैं कि सामाजिक चिन्तक वर्ग, आपसी संबंधों और मूल्यों के सवालों को जोड़कर देखते हैं। मिसाल के तौर पर मार्क्स के लेखन में। उनके यहां ये मुद्दे एक-दूसरे से जोड़कर देखे गए हैं और इन पर बातचीत भी एक साथ ही की गई है। अगर आप दुर्खीम के एवं अन्य लोगों के काम को देखें, जिन्होंने यथार्थवादी और अनुभवाधारित बुद्धिवादी समझ के आधारों पर काम किया है, तो उनके यहां ये सवाल एक-दूसरे से जुड़े हुए मिलेंगे। नैतिक मूल्य किस तरह के हों, समाज का चरित्र कैसा हो, उसमें लोगों के आपसी संबंध कैसे हों, लोगों के बीच किस तरह का संघर्ष पैदा होता है, समाज में उत्पादन के कौन से साधन मौजूद हैं; और ये सब सवाल एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। और ऐसा भी नहीं है कि सारे दार्शनिक सवाल मानदण्डात्मक (नॉरमेटिव) होते हैं। दर्शन में भी बहुत से सत्तामीमांसा (ऑन्टोलॉजी) और संज्ञान जैसे अन्य मसलों से जुड़े सवाल केवल मानदण्डात्मक उत्तरों से संतुष्ट नहीं होंगे। दर्शन केवल मूल्यों तक ही सीमित नहीं है, वह उससे भी कहीं अधिक व्यापक है। मानदण्डात्मक सवाल दर्शन का केवल एक हिस्सा भर हैं।

**प्रश्न :** अनुभवों का किसी समस्या की व्याख्या में महत्वपूर्ण स्थान होता है लेकिन उनकी जांच तो बुद्धि और तर्क के आधार पर ही करते हैं...

**अमन :** 'दर्शन क्या करता है' इस सवाल का जो उत्तर हमें मिलता है वह दरअसल 'समाजशास्त्र कैसे काम करता है' ये भी बताता है। और अगर आप समाजशास्त्र की चंद अच्छी किताबें देखें तो पाएंगे कि समाजशास्त्र दरअसल करता भी यही है। समाजशास्त्र दरअसल किसी बड़े सवाल को उठाता है और उसे बुद्धिवादी संवाद और अनुभव आधारित आंकड़ों के आधार पर परखता है। मिसाल के तौर पर, किस तरह के समाज में किस तरह की मूल्य व्यवस्था है ? ये इस तरह का सवाल है जिसे आप दर्शनशास्त्र में भी आसानी से परख सकते हैं। इस तरह के मुद्दे का अध्ययन करते हुए आप किसी समाज की विविधताओं का अध्ययन करेंगे। उदाहरण के लिए, धर्म आधारित समाजों की तुलना आप औद्योगिक समाजों से कर सकते हैं। और इस क्रम में हम दोनों समाजों के अनेक विवरणों का अध्ययन करके किन्हीं निष्कर्षों पर पहुंच सकते हैं। और निष्कर्षों के इस विश्लेषण और उसकी व्याख्या के आधार पर हम उन समाजों

के नियमों की प्रकृति और निर्मिति के बारे में जान सकते हैं। कोई इस दौरान इन समाजों के बीच के संघर्षों को अपने अध्ययन में शामिल कर सकता है। इस तरह से सारा समाजशास्त्र उन मानदण्डात्मक सवालों से निर्धारित होता है जिन्हें कोई दर्शनशास्त्री सत्तामीमांसा के सवाल कहेगा। मिसाल के तौर पर, इस दुनिया की प्रकृति क्या है ? दरअसल समाजशास्त्र और दर्शन के बीच कोई सीमा रेखा नहीं है। जो भी विभाजक रेखा दिखाई देती है वह समाजशास्त्रियों की बनाई हुई है ताकि विश्वविद्यालयों में नया विभाग खोलने के दावे को वैध ठहराया जा सके। और ये सीमाएं उन्हीं का हित साधती हैं जिन्होंने इन्हें बनाया है। अगर आप अनुशासनों के बीच की विभाजक रेखाओं पर ध्यान देंगे तो आपको कई तरह का दोहरापन मिलेगा। यहां तक कि आपको समाजशास्त्र विभाग में अस्मिता के प्रश्न को लेकर अध्ययन करने वाले मिल जाएंगे। लेकिन अगर वे इस अस्मिता की गत्यात्मकता का अध्ययन करना चाहते हैं तो उन्हें दर्शन पढ़ना ही होगा। और दर्शन ही नहीं नैतिक दर्शन भी पढ़ना होगा, राजनैतिक दर्शन भी पढ़ना होगा। उन्हें उन अन्य अध्ययनों को भी देखना होगा जिनमें दुनिया भर के अनेक समुदायों के आपसी संबंधों का अध्ययन किया गया हो; उन्हें ये भी देखना होगा कि कोई समुदाय अपने आपको परिभाषित कैसे करता है। इस पर हो सकता है भौतिक आयाम में कुछ लोग कहें कि नहीं, ये काम तो राजनीतिशास्त्री का है या कोई कहे कि ये काम तो समाजशास्त्री का है। लेकिन ये तभी तक है जब तक हम इस भौतिक आयामों में खुद को बांधते हैं। लेकिन भौतिक और बाजार के आयाम समाज के साथ इस कदर गुंथे हुए हैं कि कोई इस विषय को अर्थशास्त्र से भी जोड़कर देख सकता है। इससे एक असंगत स्थिति उपजी है। दरअसल ये स्थिति संस्थानों में सत्ता और व्यवस्था के अनुरूप पड़ती है एवं व्यवस्था और सत्ता को बनाए रखने में मदद करती है। ये विषयों और अनुशासनों के ऐतिहासिक विभाजन का एक पहलू है। दूसरा पहलू ये है कि इस अनुशासनों को एक साथ रख देना खतरनाक होगा। ये करना इसलिए भी खतरनाक होगा क्योंकि इससे अनुशासनों में भी अस्थिरता पैदा होगी। एक समाजशास्त्री की हैसियत से अगर मैं इस बात का अध्ययन करना चाहूं कि राज्य की शिक्षा नीति क्या है और लोग मुझसे पूछें कि मैं क्या कर रहा हूं तो मेरा जवाब होगा कि बच्चे चीजों को देखते कैसे हैं और सरकार इसके लिए क्या कर रही है, यही देखने का प्रयास है। वे कहेंगे कि, 'अच्छा-अच्छा मैं समझ गया'। और यदि मैं कहूं कि मैं सत्ता के संघटन और नैतिक व्यवस्था पर उसके असर को देखने का प्रयास कर रहा हूं तो वे इस तरह आश्चर्यचकित होकर मेरा मुंह ताकेंगे मानो मैं कोई गुनाह करने जा रहा हूं। ऐसा करना सत्ता समीकरणों को अस्थिर करेगा। ये संबंधों के बीच का द्वंद्व है। किसी अनुशासन को कमजोर और दुर्बल

बनाने का सबसे बेहतर तरीका है कि उसे बांट दो। ये इसलिए भी है कि विश्वविद्यालय सत्ता के काफी नजदीक रहते हैं। कुलपति हमेशा राजनीतिक लोगों द्वारा नियुक्त किए जाते हैं और उन्हें लगातार इन्हीं राजनीतिक लोगों से अनुदान की दरकार रहती है। अगर वे कुछ असुविधाजनक सवाल उठाते हैं तो ये उनके लिए असुविधाजनक होगा और जो व्यक्ति इसके लिए अनुदान की अपेक्षा रखता है उसे तो शर्मिन्दा ही होना पड़ेगा। और अगर हम उत्तेजक, अच्छे लेकिन सुरक्षित प्रश्न उठाते हैं तो हमें अनुदान आसानी से मिल जाएगा। और ये केवल मेरी धारणा नहीं है, बहुत से लोग ऐसा सोचते हैं। मुझे लगता है कि ये इस प्रक्रिया का एक वाजिब विवरण है।

**प्रश्न :** दरअसल मैं अन्तर अनुशासनात्मक पद्धति के दो मॉडलों की बात कर रहा था जिसमें एक मॉडल तो ये है कि हम अपने विषय की बेहतर समझ के लिए अन्य विषयों का अध्ययन करें और दूसरा आप जो बता रहे हैं कि अनुशासनों के बीच की ये विभाजक रेखाएं सत्ताशील लोगों की अपनी सुविधा के लिए खींची गई कृत्रिम सीमाएं हैं और इनका कोई मतलब नहीं है। इनमें से कौन-सा मॉडल अध्ययनों के लिए बेहतर है ?

**अमन :** मेरी राय में दूसरा मॉडल हमारे शोध प्रश्नों के लिए ज्यादा सटीक है। लोग शोध प्रश्न कैसे खोजते हैं ? एक तरीका तो ये होता है कि किन क्षेत्रों में शोध हो चुका है और उसमें कौन से बारीक पहलू छूट गए हैं। बस, उन्हीं को विस्तार देकर अपना शोध प्रश्न बना लेना। लेकिन हम बड़े शोध प्रश्नों की बात करें जो दार्शनिक प्रश्न भी हों, ऐसे प्रश्न जो दर्शनशास्त्र की दृष्टि से अहम हों। इस बात का सही जवाब हमें तब ही पता चल सकता है जब हम ये जान लें कि हमारी मूल्य व्यवस्था टिकी किस पर है। अगर हम शुरू में ये स्पष्ट कर दें कि हमारा प्राथमिक सवाल समानता को लेकर है तो आगे के सवाल स्कूल में समानता के व्यवहृत रूप या उसकी अनदेखी को लेकर हो सकते हैं। और इस तरह से हम आनुभविक आंकड़ों पर आधारित अध्ययन कर सकते हैं। यहां मैं जोर देकर कहना चाहूंगा कि हम इस तरह से भी अध्ययन कर सकते हैं कि अमुक स्कूल में अमुक-अमुक वर्ग का प्रतिनिधित्व है। अब इस तरह से मूल प्रश्न एक तरह का नैतिक प्रश्न बन जाता है। तो ये कहना- कि अमुक व्यक्ति राजनीतिशास्त्री है या केवल समाजशास्त्र में रुचि रखता है या केवल इतिहास में रुचि रखता है- केवल विभागों में अनुशासनों के बीच विभाजन का दुर्भाग्यपूर्ण दुष्परिणाम है। मुझे भी इस बात का अहसास होने में कई बरस लग गए। और इसीलिए हमें ये खोजने में काफी दिक्कत का सामना करना पड़ता है कि वास्तव में महत्वपूर्ण शोध प्रश्न हैं क्या ? क्योंकि हमें दर्शन का पर्याप्त

प्रशिक्षण प्राप्त नहीं है; हमें तर्कशास्त्र भी नहीं आता। हमारा दृष्टिकोण भी इतना व्यापक नहीं होता कि हम उचित नैतिक प्रश्न खोज पाएं। और हम ये भी नहीं जानते कि वे कौन-सी नैतिक व्यवस्थाएं हैं जिनमें लोग काम करते हैं; हम ये सब नहीं जानते। इसीलिए हमें समाजशास्त्र में अहम प्रश्नों को खोजने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। और ऐसी स्थिति में समाजशास्त्र के नाम पर जो भी होगा वह काफी कमजोर होगा। ये एक अपराध सरीखा है। उदाहरण के लिए, अगर कुछ राजनैतिक-समाजशास्त्री, राजनीतिशास्त्री, राजनैतिक-दर्शनशास्त्री राज्य और विश्वविद्यालयों के रिश्तों को समझने का प्रयास करते हैं; और ये तो स्पष्ट ही है कि राज्य कोई निष्पक्ष हस्ती नहीं है बल्कि अनेक शक्तियों और सवालों से उपजी है। और वह ये भी जानता है कि विश्वविद्यालय को राज्य या अनुदान देने वाली संस्थाओं से अनुदान लेना ही होता है और ये संस्थाएँ सत्ता के प्रति काफी संवेदनशील होती हैं। और ये सारी चीजें उन काफी शक्तिशाली लोगों के हाथों में होती हैं जो अनुचित राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का लाभ उठाते हैं। और ये सब लोग ऐसे सवाल पसंद करते हैं जो उनके लिए दिक्कत पैदा न करें। जिसकी भाषा सहज हो, उन्हें विचलित करने वाली न हो। अगर हम ये पूछें कि भारत में सत्ता का वितरण कैसा है और बच्चों के विकास पर इसका क्या असर पड़ रहा है तो ये सवाल उनके लिए असुविधाजनक होगा। अगर हम इसी सवाल को इस तरह पूछें कि शिक्षा की बच्चों तक पहुंच में किस तरह के भेद हैं तो ये सवाल उनके लिए दिक्कत तलब नहीं होगा। वास्तव में यहां पर दूसरा सवाल पहले सवाल का ही एक खास पहलू है। सवाल में से नैतिकता का पहलू हटा दें; सवाल को छोटा बना दें वे आपको अनुदान दे देंगे। और परिणामस्वरूप अगर सांगठनिक स्मृति बड़े मुद्दे को छोड़ देगी तो शोधकर्ता इधर-उधर की कम महत्त्व की बातों में भटकते रहेंगे और तमाम आंकड़े एकत्र करने के बावजूद महत्त्वपूर्ण मुद्दों से दूर ही रहेंगे। हम इधर-उधर के मुद्दों पर काम करने के लिए अनुदान पाने पर खुश रहते हैं। राज्य को निष्पक्ष समझना बड़ी भूल होगी।

**प्रश्न :** आप मुझे ये कहते लग रहे हैं कि ज्ञान की संपूर्णता को अनुशासनों में बांटना उस अनुशासन को और खुद ज्ञान को कमजोर करता है।

**अमन :** कुछ देर के लिए हम सारे ज्ञान को एक साथ लेकर बात करते हैं। अगर आप इंजीनियर के काम को देखें; हम अपने संस्थान में वैज्ञानिकों को काम करते देखते हैं, उनमें से कई इसी तरह की बात करते हैं। वे बताते हैं किस तरह के शोधों के लिए अनुदान मिलता है। अनुदान उन शोधों के लिए मिलता है जिन्हें शक्तिशाली लोगों

का समर्थन मिलता है। गरीब लोगों को फायदा पहुंचाने वाले शोधों को वे अनुदान देने के लिए उत्सुक नहीं होते। तब भी संभव है मिसाल के तौर पर, कोई गणितज्ञ क्षेत्रफल पर कुछ काम कर रहा हो और उसमें सत्ता का कोई दखल न हो फिर भी आप देखेंगे कि गणित में भी अधिकांश शोध गणना और सांख्यिकीय ज्ञान को लेकर होते हैं और इसमें आप हितों को सीधे-सीधे देख सकते हैं।

**प्रश्न :** ज्ञान की प्रकृति का जो फर्क है उसे आप कैसे देखते हैं ?

**अमन :** ज्ञान की प्रकृति से आपका तात्पर्य क्या है ?

**प्रश्न :** जैसे मान लें गणित में जो ज्ञान निर्माण होता है उसके सत्यापन और प्रमाणन के कुछ तरीके हैं या समाजशास्त्र में जो ज्ञान निर्मित होता है उसके सत्यापन और प्रमाणन के तरीके होते हैं और उनमें फर्क है। तो उन सब को मिलाकर जो ज्ञान बनेगा उसके सत्यापन और प्रमाणन के कौन से तरीके होंगे ? ज्ञानानुशासनों में जो विभाजन है वो आपके अनुसार कृत्रिम है। तो प्राथमिक शिक्षा में काम करते हुए अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टि का इस्तेमाल हम किस स्तर पर जाकर शुरू कर सकते हैं और ये कहां तक जाकर खत्म हो सकती है।

**अमन :** इसे हम आलोचनात्मक समाजशास्त्र या आलोचनात्मक समाज विज्ञान कहते हैं। दरअसल ज्ञान मूलतः समाज से जुड़ा हुआ है और सामाजिक अनुभवों के माध्यम से ही निर्मित होता है। इसलिए इसमें सभी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अनुभव शामिल होते हैं। इसमें ऐतिहासिक तथ्य भी शामिल होते हैं। और इस प्रकार ज्ञान का जो ढांचा तैयार होता है वह सामाजिक रिश्तों के माध्यम से हम तक आता है। मैं ये नहीं कह रहा कि सभी तरह का ज्ञान वस्तुनिष्ठ किस्म का है, लेकिन हमारी कोशिश यही रहती है कि हम सत्यादर्श के जितना अधिक हो सके नजदीक और गहराई तक पहुंच जाएं। लेकिन ये सब सामाजिक संबंधों के साथ ही संभव है। आप जानते हैं कि जो ज्ञान मेरे पास है वह हमारे उन सामाजिक संबंधों का ही नतीजा है जिसका कि मैं हिस्सा हूँ। और समस्या ये है कि हमें अपने सामाजिक संबंधों को भी बदलना पड़ता है। हम सत्य के साथ अपने सामीकरणिक संबंध को गहराई से देखें तो ये समस्या और भी बड़ी लगने लगती है। इन सामाजिक संबंधों को बदल कर ही हम चीजों को बेहतर तरीके से समझ सकते हैं। अगर मैं किसी सत्ताशील के पहलू में बैठकर काम करूंगा तो मैं कई बातें कहने की स्थिति में नहीं होऊंगा। हो सकता है कि मैं कुछ चीजों को पहचान भले ही लूं, लेकिन उसके बारे में बात करना मुश्किल होगा। और इसी तरह से अगर हम राज्य के प्रतिनिधि बनकर किसी गांव में जाते हैं और कुछ सवाल पूछते हैं तो हमें कुछ निश्चित किस्म के

ही उत्तर मिलेंगे और कुछ निश्चित किस्म के उत्तर नहीं मिलेंगे। और अगर हम किसी ऐसे व्यक्ति के रूप में वहां जाते हैं जिस पर गांव वाले विश्वास कर सकें, तब वे खुल कर हमारे सवालों के जवाब देंगे। ऐसी स्थिति में हो सकता है हम कुछ चीजों को नजरअंदाज कर दें, लेकिन जब हम लौटेंगे तो एक जोशो-खरोश से भरे होंगे और रिपोर्ट में सत्य का उद्घाटन करेंगे। और ये बिल्कुल वैसा ही नहीं होगा जैसा कि लोगों ने हमें बताया, बल्कि इसमें हमारी सहानुभूति भी जुड़ जाएगी।

मैं ये जो सब बातें कर रहा हूं, ये सब आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य से निकले मूल विचार हैं। वे संबंध जिनका कि मैं हिस्सा हूं, चीजों को समझने की मेरी सीमा आदि सब मेरी चेतना पर निर्भर करते हैं जो मेरे अनुभवों, मेरे इतिहास और समाज में मेरी स्थिति से निर्मित हुई है।

**प्रश्न :** इस संदर्भ में उत्तर-आधुनिक विचारों कैसे देखते हैं ?

**अमन :** उत्तर-आधुनिक विचारकों को अच्छी नजर से नहीं देखा गया है। और इसमें भी सबसे चरम विचारों को ही उत्तर-आधुनिक विचारों के रूप में प्रचारित किया जाता रहा है, और इस तरह के विचार रखने वाले भी गिनती के ही हैं। चरम विचार की मिसाल ये कि कोई भी सत्य संभव नहीं है और सब कुछ संदर्भ का ही प्रतिफल है। इसलिए कुछ भी जानने योग्य नहीं है। और यह विचार-कि किसी भी तरह की पुनर्जांच संभव नहीं है- ही उत्तर-आधुनिकों की मूल स्थापना बन गई है। और कुछ लोग जो खुद को उत्तर-आधुनिक कहलाना पसंद करते हैं वे ऐसा कहते भी हैं। लेकिन देरिदा जैसा व्यक्ति ऐसी बात कभी नहीं कहेगा। आप उसके लिखे हुए को देख सकते हैं। और भी मिसाल के तौर पर सिग्मण्ड बाउमन जिसने 'पोस्ट-मॉडर्न एथिक्स' नाम की किताब लिखी है वह ऐसी धारणा कभी नहीं रखेगा। ये लोग जिस बात को महत्वपूर्ण मानते हैं वह उनमें से एक बात है जो देरिदा ने कही है। वह कहता है कि हम जिस किसी भी अवधारणा को लेकर काम करते हैं उसका खुद भी कोई ठोस आधार नहीं है बल्कि वह खुद किन्हीं अन्य अवधारणाओं पर आधारित होती है। और वे अवधारणाएं भी किन्हीं अन्य अवधारणाओं पर निर्भर करती हैं। और जब हम अपने काम को इस तरह प्रस्तुत करते हैं मानो कि वे ही सत्य हैं और अन्तिम हैं तो ये उचित नहीं है। उत्तर-आधुनिकता का चरम रूप हम देरिदा के यहां उन्हीं जगहों पर पा सकते हैं जहां वह अर्थ के आपसी संबंधों के कारण उत्पन्न समस्याओं की बात करते हैं। और वे यह कोई नई बात नहीं कह रहे हैं लेकिन वे अपनी बात को बड़े नाटकीय अंदाज में, बड़े ठोस लहजे और अतिशयोक्ति पूर्ण ढंग से लिखते हैं। बाउमन भी इसी तरह की आधारभूत बात कहते हैं लेकिन वे भी कोई नई

बात नहीं कह रहे हैं।

ये विचार अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में आया कि धर्म जिस तरह की निश्चितता की बात करता है वह विश्वसनीय नहीं है। दरअसल ज्ञान कभी भी पूर्ण निश्चितता का दावा कर ही नहीं सकता। मैं एक ऐतिहासिक क्रम में पैदा हुआ हूं और मेरा ज्ञान भी इसी क्रम में उत्पन्न हुआ है। ये ज्ञान और जगत में मेरी मौजूदगी और अनुभवों के आधार पर निर्मित हुआ है। मैं सत्य जानने के लिए संघर्ष करता हूं लेकिन ये कैसे जानूं कि मुझे सत्य मिल ही गया है। मैं इसके बारे में विश्वस्त नहीं हो सकता। कम से कम देरिदा ये नहीं कह रहे हैं कि हमें सत्य के लिए अपने संघर्ष को रोक देना चाहिए। उत्तर-आधुनिकों का तर्क यह है भी नहीं। हां कुछ अतिवादी उत्तर-आधुनिक ये तर्क देते हैं।

उत्तर-आधुनिक विचारक कुछ हद तक हमें इस बात को समझने के लिए प्रेरित करते हैं कि अवधारणाओं के प्रति हमारा विश्वास कुछ समस्याप्रद भी है। और ये उनका एक बड़ा योगदान है। मिसाल के तौर पर नारीवादी लोगों ने इस बात को उठाया कि हम जिन आधारभूत (श्रम) श्रेणियों की बात करते हैं उन पर ही सवाल उठाया जाना चाहिए। क्योंकि 'काम' का मतलब केवल उसी काम से लिया जाता है जिसके लिए हमें कुछ वेतन का भुगतान किया जाए; और इसका खामियाजा घरेलू काम करने वालों पर पड़ता है क्योंकि उनके काम को उत्पादन से जोड़कर नहीं देखा जाता। इस तरह से आप देख सकते हैं कि कैसे ज्ञान सामाजिक संदर्भ में प्रभावित होता है और उत्तर-आधुनिक विचार इसमें हमें संवेदनशील बनाने का काम करता है। और इसका ये काम बेहद महत्व का है और खास तौर पर उनके लिए घातक है जो ज्ञान को सत्ता के आधार की तरह इस्तेमाल करते हैं। ये उन लोगों के लिए घातक है जो ये मानते हैं कि फलां-फलां ज्ञान मेरे पास है और मैं सत्य को जानता हूं इसलिए तुम मेरी बात मानो। और इसीलिए कुछ लोग उत्तर-आधुनिकों के प्रति बड़े ही आक्रामक ढंग से प्रतिक्रिया देते हैं। असल में उत्तर-आधुनिक विचारक जो कह रहे हैं उसमें कुछ भी नया नहीं है। ये एक पुराना विचार है जिसे नया आधुनिक जामा पहनाया गया है। ये नीत्शे की बात से ज्यादा भिन्न नहीं है और अनेक अन्य समाजशास्त्री भी इस बात को लम्बे समय से कहते रहे हैं। लेकिन फर्क ये है कि इन्होंने इस बात को बड़े ही सटीक ढंग से प्रस्तुत किया है। और इस तरह से देखें तो उत्तर-आधुनिकता कोई बहुत बड़ी बात नहीं कहता। और अनुशासनों के बीच सीमाएं बांधने की दृष्टि से देखें तो ये वहां भी अभी एक सवाल ही बना हुआ है। क्या वाकई अनुशासनों के बीच इस तरह के भेद किए जा सकते हैं और हम इन अनुशासनों को फिर कहेंगे क्या ?

ये कहना आसान है कि निचले स्तर पर कुछ हद तक श्रम का विभाजन किया जा सकता है। और कोई ये कह सकता है कि ये विभाजन सवालों की प्रकृति, अध्ययन की विषयवस्तु के आधार पर नहीं वरन् उनकी तकनीकों के आधार पर हो सकता है। मिसाल के तौर पर गणितीय और सांख्यिकीय तकनीकें और इनके बरअक्स व्याख्यात्मक तकनीकें खास तौर पर मूलतः मूल्य आधारित तकनीकें। मिसाल के लिए, दार्शनिक वे लोग जिन्हें हम पुराने समय में दार्शनिक साहित्यिक लोग, समाजशास्त्री, नृतत्वशास्त्री- वे लोग चीजों के अर्थ पर बात करते थे- एक साथ मिलकर काम करें तो शायद आप पाएं कि अर्थशास्त्र में गणितीय मॉडलों के साथ काम करने वाले, समाजशास्त्र में गणितीय मॉडलों के साथ काम करने वाले या वे साहित्यिक लोग जिनमें इस तरह का रुझान है और संभवतः कोई भाषाशास्त्री भी इनमें हो और सब मिल काम कर रहे हों तो शायद आप कोई मैट्रिक्स इसमें पा सकें जो अनुशासनों की चौहद्दी तय कर सके।

बहुत से लोग अब अनुशासनों के कृत्रिम विभाजन के दुष्परिणामों को पहचान रहे हैं। समाजशास्त्री कहते हैं कि प्रत्यक्षवादी रुझान समाजशास्त्र के लिए संकट था। राजनीतिशास्त्री कहते हैं कि उनके अनुशासन के लिए संकट का दौर तब था जब राजनीतिशास्त्र तथ्याधारित (इम्पीरिकल) अनुशासन बनकर रह गया और उन्होंने राजनीति-दर्शन के सवाल पूछने बन्द कर दिए। ये राजनीतिशास्त्र के लिए एक बड़ा संकट था। अब वे फिर उन चीजों को देख परख रहे हैं और नई समस्याएं भी उन्हें दिखाई दे रही हैं जो पहले अनदेखी रह गई थीं। उन्हें अब महसूस हो रहा है कि वे किसी बड़े जाल में फंस गए थे।

**प्रश्न :** अगर हम इस अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टि को लेकर चलें तो यह शिक्षा को बेहतर तरीके से समझने में किस तरह मदद कर सकता है ? शिक्षण प्रक्रियाओं को बेहतर करने में कैसे मददगार हो सकता है ?

**अमन :** ये सवाल ऐन उस लहजे में पूछा गया है जिसमें आमतौर पर दार्शनिक पूछा करते हैं कि इसका उद्देश्य क्या है ? आप करने क्या जा रहे हैं ? हमारे मूल्य क्या हैं ? हमारे प्रस्थान बिन्दु क्या हैं ? हम ये देखना शुरू करें कि उस सांस्थानिक ढांचे में हो क्या रहा है जिसे हम स्कूल कहते हैं। उसमें कौन से मूल्य हैं जिन्हें वहां जिया जा रहा है। वहां सत्ता के समीकरण क्या हैं और कुल जमा वे कौन-सी परिस्थितियां हैं जिनमें हमारे अनुभवों को आकार मिल रहा है। ये सब कुल मिलाकर हमें एक ऐसी छवि उभारने में मदद करेंगे जिससे हम ये समझ सकें कि स्कूल में क्या चल रहा है। पुराने जमाने के लोग कहेंगे कि नहीं नहीं... राजनीतिशास्त्री अर्थशास्त्र में क्या दखलंदाजी कर रहा है और समाजशास्त्र में क्यों दखल दे रहा है ?

और ये दार्शनिक तो सब घालमेल किए देते हैं। लेकिन आज हमें लगता है कि यही सबसे बेहतर तरीका है और इसके अतिरिक्त किसी भी अन्य तरीके से पाए गए परिणाम अधूरे ही रहेंगे। और चीजों को समझने में हमारी मदद नहीं करेंगे।

**प्रश्न :** दुर्खीम को पढ़ते हुए यह लगने लगा कि शिक्षा सामाजीकरण का एक जरिया मात्र है। ये किस हद तक ठीक है ? क्या शिक्षा को सामाजीकरण का जरिया मानना शिक्षा की समुचित परिभाषा है ?

**अमन :** दुर्खीम भी गलत अंदाज में पढ़े जाने के शिकार हुए हैं। हमारे सामने यहां एक किताब का एक छोटा हिस्सा मौजूद है और इसमें दुर्खीम को जैसे समझने का प्रयास किया गया है उससे मुझे आश्चर्य नहीं कि इससे संदर्भ ही स्पष्ट नहीं होता। दुर्खीम को अक्सर संदर्भ से परे रखकर ही पढ़ा गया है। देखिए, दुर्खीम के दो रूप हैं। एक वह जो समाजशास्त्र को विश्वविद्यालय में पढ़ाए जाने की वकालत करता है। इस मामले में वह एक बेहद चतुर व्यक्ति है जो ये जानता है कि सत्ताशील लोगों को नाराज किए बगैर चीजों को कैसे संभालना है। ये दुर्खीम का एक रूप है। दुर्खीम का दूसरा रूप एक ऐसे आदमी का है जो फ्रांस की अन्दरूनी दिक्कतों- जिसमें एक ओर चर्च और दूसरी ओर धर्मनिरपेक्ष (सेकुलर) ताकतों के टकराव- से जूझ रहा था। और दोनों ही एक-दूसरे के खिलाफ लगभग युद्ध की सी स्थिति में थे। और ऐसी स्थिति में ये व्यक्ति पूछ रहा था कि क्या कोई ऐसी संस्कृति विकसित की जा सकती है जो साझा हो ? अपने शुरुआती और काफी उत्तेजक काम में वे भाईचारे की बात करते हैं। और ये बातें वे किसी कामचलाऊ अर्थ में नहीं करते, जिसमें लोग अक्सर कहते पाए जाते हैं कि 'हां, हममें एका होना चाहिए'। वे कहते हैं कि कोई भी समाज, जो जीना चाहता है, उस समाज के लोगों के बीच न्यूनतम स्तर का आपसी रिश्ता तो होना ही चाहिए। अगर ये नहीं है तो समाज भी नहीं रहेगा। वह टूट जाएगा। कई हिस्सों में बंट जाएगा। और ये बात कहना उचित भी है। और जब वे ये बात कह रहे थे तब उनके दिमाग में फ्रांस था। वे कहते हैं कि अधिकांश सहज और छोटे समाजों में ये काम रूढ़ियां और त्योहार कर देते हैं। तो अगर कोई आपसी रिश्ता है तो समाज में छोटी-मोटी दिक्कतें तो यों ही सुलझ जाती हैं। वह इसे 'मशीनी भाईचारा' कहते हैं (शब्दों का ये चयन दुर्भाग्यपूर्ण है)। उनकी समस्या ये थी कि फ्रांस में समाज काफी असमान था और वहां ऐसा होने की गुंजाइश कम थी।

आप उस फ्रांस की कल्पना करें जहां तमाम किस्म के लोग रहते हैं, सैकड़ों किस्म के चर्च हैं, कई किस्म के बुद्धिजीवी, कई किस्म के किसान- मजदूर रहते हों, ऐसे में साझेपन के लिए कोई आधार खोजने की गुंजाइश काफी कम है। वहां एक अलग किस्म के साझेपन

की दरकार होगी। दुर्खीम कुछ इसी तरह के साझेपन की पेशकश करते हैं और (यहां फिर वही दुर्भाग्यपूर्ण शब्दों का चयन और इसके गलत अर्थ भी निकाले गए हैं) वे इसे 'जैविक भाईचारा' कहते हैं। इस तरह से वे 'मशीनी' और 'जैविक' 'भाईचारे' की बात करते हैं। मैं यहां पर भाईचारे शब्द पर जोर देना चाहूंगा कि ये शब्द उन्नीसवीं सदी के समाजवादी आंदोलन का केन्द्रीय तत्व रहा है। लेकिन मूल सवाल तो ये था कि इस प्रकार का जटिल समाज खुद और दूसरों के प्रति ये भावना कैसे रखे ? आप जानते हैं कि आपको किसी न किसी तरह साथ ही रहना है। लेकिन कैसे ? उनका आश्चर्य में डालने वाला जवाब था धर्म-निरपेक्षता के जरिए। क्योंकि ज्यों ही आप एक धर्म को तरजीह देंगे, त्यों ही दूसरे धर्म वाले उसे मानने से इन्कार कर देंगे। आप धर्म को भाईचारे के आधार के रूप में इस्तेमाल नहीं कर सकते। अगर आप किसी संस्कृति को भाईचारे का आधार बनाने का प्रयास करेंगे तो इस घेरे से बाहर रह गए लोग आपको घेर लेंगे। इसीलिए वह कहते हैं कि फ्रांस में अगर किसी तरह का भाईचारा संभव है तो वह धर्मनिरपेक्ष ही हो सकता है। और इसके लिए वह तर्क भी देते हैं और इस क्रम में वे एक मूलभूत सिद्धान्त और हमारे समय के एक काफी उत्तेजक विचार को भी रेखांकित करते हैं। ये विचार फ्रांस की क्रांति का प्रेरक रहा है और आज भी फ्रांस के इतिहास में महत्त्व रखता है। वे कहते हैं कि किसी भी समाज को ठीक तरह से चलते रहने के लिए, आपस में बंधे रहने के लिए जैविक भाईचारा जरूरी है और ये नहीं होगा तो वह समाज बिखर जाएगा।

दुर्खीम के बाद के कामों में शिक्षा पर ज्यादा तवज्जो है। कई सामाजिक काफी जटिल हैं और वे टिके रहेंगे, लेकिन अगर वे वाकई टिके रहना चाहते हैं तो शिक्षा इसमें एक भूमिका निभा सकती है। और कम से कम स्कूल और शिक्षा लोगों का मौलिक तकनीक से सामाजीकरण करने का काम तो कर ही सकती है। वे ये नहीं कह रहे हैं कि शिक्षा हर समाज में वास्तव में यही काम करती है और केवल यही काम वह कर सकती है। वे कह रहे हैं कि अगर समाज टिके रहना चाहता है तो शिक्षा को ये काम करना ही चाहिए। ये दुर्खीम का विचार है। वे स्कूल का आंकड़ों के आधार पर मूल्यांकन नहीं कर रहे, लेकिन वे शिक्षा के बारे में काफी रोचक और चिन्तनशील विचार रखते हैं। वह ऐसा कुछ नहीं कर रहे जिसे हम लोग प्रत्यक्षवादी समाजविज्ञान कहते हैं। वे किन्ही नैतिक दार्शनिक और राजनैतिक सवालों से प्रेरित थे। वे किसी जीव-वैज्ञानिक की तरह किसी अनजान पेड़ की पत्तियों का विश्लेषण नहीं कर रहे और वे शिक्षाशास्त्र भी नहीं पढ़ रहे थे। वह केवल अपनी समस्याओं का हल खोजने का प्रयास कर रहे थे। इसलिए वे इस बात का कोई व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत नहीं करते कि स्कूल होता क्या है। वे स्कूल के केवल एक पहलू में ही रुचि

लेते हैं कि क्या ये पहलू फ्रांस को एक रखने में मदद कर सकता है ? और अगर इस सवाल का जवाब हां है तो वे ये बता सकते हैं कि स्कूल इस दृष्टि से और क्या-क्या कर सकता है। दुर्भाग्य से हममें से अधिकांश लोग दुर्खीम पर बात करते समय गौण स्रोतों पर विश्वास कर लेते हैं। हम दुर्खीम का मूल लेखन नहीं पढ़ते।

अब बात करें कि शिक्षा के संभाव्य आदर्श क्या हो सकते हैं ? टैलकॉट पार्सन ने इसका एक बहुत ही बढ़िया विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है कि शिक्षा एक ओर तो सामाजीकरण करती है, पार्सन एक प्रकार्यवादी (फंक्शनलिस्ट) हैं और वे वैसी ही बातें करते हैं जैसी सत्ताशील लोग सुनना पसंद करते हैं। तो इसलिए वे कहते हैं कि स्कूल दरअसल ये काम कर ही रहा है। लेकिन कुछ ऐसे प्रकार्यवादी भी हैं जो सत्ता को खुश रखने के लिए कोशिशें नहीं करते। ऐसे ही एक व्यक्ति राबर्ट मेटन का मानना है कि संस्थाएं दिए गए काम को करती भी हैं और नहीं भी करती हैं। आप कभी-कभी ऐसी स्थितियां भी पाएंगे जिसमें ऐसी चीजें होंगी जो समाज का कोई भला नहीं करतीं। आप दुनिया के किसी भी स्कूल में चले जाएं- चाहे भारत में या फ्रांस में या इंग्लैण्ड में- और पूछें कि वे ऐसा क्या कर रहे हैं जो समाज की दी हुई सामाजिक संरचना को मजबूत करने के लिए सामाजीकरण कर रहे हैं ? तो आपको नकारात्मक जवाब मिलेगा।

वास्तव में वे कर क्या रहे हैं ? वे सचमुच कुछ हद तक सामाजीकरण कर रहे हैं। यहां सामाजीकरण के माने सीमित हैं यानी वे कुछ मूल्य सिखा रहे हैं, कुछ दिशा-निर्देश दे रहे हैं। लेकिन संभव है वे मूल्य और दिशा-निर्देश गलत हों और समाज के लिए किसी भी सूरत में हितकर न हों। ये बहुत सुचारु रूप से चलने वाली व्यवस्था नहीं है। लेकिन हां, ये सामाजीकरण एक ऐसा काम है जो स्कूल बखूबी कर सकता है। जब मैं स्कूल का एक सामान्य मॉडल बनाने की कोशिश करता हूं तो ये सामाजीकरण एक बड़ी समस्या की तरह आता है जो स्कूल के लिए जरूरी है।

**प्रश्न :** मान लीजिए एक मूल्य संरचना हमने बनाई है। हमने अपने संविधान में कुछ मूल्य रखे हैं उनको मान कर आप कह रहे हैं कि इनका सामाजीकरण कर दें या समाज में जो मूल्य मौजूद हैं उनका सामाजीकरण। किसका सामाजीकरण, किन मूल्यों का सामाजीकरण ?

**अमन :** वो तो मसला है ही, मूलभूत मसला है।

**प्रश्न :** हम वास्तव में यह मानकर चलते हैं कि समानता होनी चाहिए, प्रेम भाव होना चाहिए और स्कूल को इन मूल्यों का सामाजीकरण करना चाहिए। लेकिन दुर्खीम किस सामाजीकरण की बात करते हैं ?

**अमन :** दुर्खीम कहते हैं कि उनको तर्क के लिए सामाजीकरण करना चाहिए लेकिन जो स्कूल कर रहे हैं वह बिल्कुल अलग है। दुर्खीम कहते हैं कि समाज व्यक्तियों में सन्निहित होता है लेकिन उनकी अपनी भी कुछ इयत्ता होती है। लेकिन दुर्खीम को इस तरह से पेश नहीं किया जाता। दुर्खीम के बारे में कहा जाता है कि वह बहुत निश्चयवादी था लेकिन शिक्षा को लेकर उसने जो लिखा है उसमें वह कहता है कि लोगों के पास इयत्ता होती है। शिक्षा में लोग चुनाव करते हैं और वे कहते भी हैं कि शिक्षा से ये आशा की जा सकती है कि यहां लोग अपनी रुचियों को अपने मर्जी से चुनने के लिए तीन स्थितियां पा सकते हैं। ये तीन स्थितियां जो शिक्षा पैदा कर सकती है (और जरूरी नहीं कि शिक्षा ऐसा करे ही) वे हैं- अनुशासन का भाव, किसी सामाजिक समूह से संबंध का भाव और तीसरा वे कहते हैं कि स्वायत्तता का भाव विकसित करना। और दुर्खीम अपनी सामाजीकरण की परिभाषा को इन मूल तीन चीजों विकास तक ही सीमित रखते हैं।

**प्रश्न :** पहले और तीसरे को अलग-अलग क्यों किया ? क्योंकि अनुशासन का भाव हो सकता है कि बिना स्वायत्तता के भी नजर आ जाए ?

**अमन :** दुर्खीम की जो किताब मैंने पहले पढ़ी थी उसमें वह पहले दोनों के बारे में काफी विस्तार से बात करता है। तीसरे स्वायत्तता के बारे में थोड़ी-सी बात करके छोड़ देता है। लेकिन वह कहता है कि उसके बिना बहुत गड़बड़ हो जाएगी। अगर मैं अनुशासन सिखा रहा हूं तो बिना स्वायत्तता के उसका कोई मायना नहीं है। देखिए, मुझे तो लगता है कि किसी को इतना अराजक होकर नहीं सोचना चाहिए कि हर तरह का अनुशासन गलत है। अनुशासन काफी जरूरी है। हम जो भी करते हैं, मान लीजिए कि हम स्वतंत्रता के लिए ही संघर्ष कर रहे हैं तो इसके लिए भी अनुशासन की जरूरत होगी। और ये सच है कि आप अनुशासन को पूरी तरह से खारिज नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में समाज चल ही नहीं सकता। तो अब सवाल ये है कि हम ऐसा अनुशासन कैसे विकसित करें जो समाज को चलने में कम से कम दिक्कत पैदा करे। कुछ हद तक व्यवस्था और मर्यादा की जरूरत तो होगी ही। और कहना न होगा कि अनुशासन को उसके चरम तक नहीं बढ़ाना चाहिए। इसको देखने का एक तरीका ये हो सकता है कि इंसान को एक भौतिक आधार चाहिए ही होता है और किसी भी भौतिक आधार को कम से कम एक व्यवस्था की जरूरत होती है। सवाल ये है कि आप तबज्जो किसे ज्यादा देते हैं। ऐसा न हो कि व्यवस्था इंसानों से ज्यादा तरजीह पाने लगे। इंसान को तो सबसे ऊपर रखना ही होगा। तो इस तरह से दुर्खीम का ये कहना उचित हो जाता है कि अनुशासन के साथ

इयत्ता भी होनी चाहिए। उसकी दूसरी बात- सामज से एक जुड़ाव- थोड़ी पेचीदा है। अक्सर हम जैसे कई लोगों को लगता है कि ये कैसी संकीर्ण बातें सिखाने की कोशिश कर रहा है। लेकिन वह ये बात समझ रहा था जिसे आज कई लोग कहते हैं कि हमारी कोई न कोई सांस्कृतिक पहचान भी होनी चाहिए। बहुत से लोग वैश्विक और मानवीय पहलुओं को मद्देनजर रखते हुए इस बात की पैरवी करते हैं कि किसी न किसी तरह की सांस्कृतिक पहचान जिंदा रहने के लिए जरूरी है। (मैं इस मुद्दे पर ज्यादा स्पष्ट नहीं हूँ) लेकिन जब स्थिति ये आ जाए कि हमें ये लगने लगे कि मेरी संस्कृति ही बाकी सारी संस्कृतियों से बेहतर है तो समस्या पैदा होती है। लेकिन बिना सांस्कृतिक पहचान के तो इंसान का जीना ही मुश्किल है।

**प्रश्न :** सामाजीकरण के बारे में आमतौर पर ये कहा जाता है कि समाज में जो चीजें हैं; रीति-रिवाज, परंपराएं, मूल्य बोध आदि-उनमें बिना गलत और सही का सवाल किए-सिखा देना या सीख लेना ही सामाजीकरण है। क्या दुर्खीम कुछ अलग कह रहे हैं ? सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक पहचान में किस तरह से फर्क करते हैं ?

**अमन :** ये दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। बिना सामाजिक पहचान के सांस्कृतिक पहचान संभव नहीं है।

**प्रश्न :** जब दोनों को अलग-अलग कर रहे हैं तो दोनों में फर्क क्या है ?

**अमन :** सामाजिक संदर्भ के बिना भी सांस्कृतिक पहचान के बारे में बात की जा सकती है।

**प्रश्न :** जब शिक्षा की बात कर रहे थे तो उसमें तीन स्थितियों की चर्चा की थी। एक था अनुशासन का भाव; दूसरा था सामाजिक समूहों से जुड़ाव और तीसरा था स्वायत्तता का भाव। मेरा सवाल है कि जब बच्चों को ये सिखाएं कि उनकी संस्कृति से जुड़ाव होना चाहिए कहीं इसके मायने ये तो नहीं कि बच्चे अपनी अस्मिता, परंपरा और संस्कृति पर सवाल उठाना ही बंद कर दें ? अर्थात् क्या यह अपने समाज और संस्कृति के प्रति आलोचनात्मक चिन्तन को बाधित नहीं करेगा ?

**अमन :** नहीं। ये एक महत्वपूर्ण प्रश्न है और अगर आप एक व्यक्तिगत और एक साझी पहचान के बीच फर्क करेंगे तो... पंजाबी में एक कवि हैं सुरजीत पातर। उसकी एक बहुत अच्छी कविता है जिसमें वे एक जगह अपनी कविता में कहते हैं- एना सच न बोल, कोई दोस्त न रहे। चार बन्दे छड दे मोड्डा देन वास्ते। पंजाबी में कन्धा देने के लिए मोड्डा देना इस्तेमाल करते हैं। यह एक ऐसा दृढ़ है जो आलोचनात्मक तरीके से सोचने वालों को होता है। मेरी अस्मिता मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी, कई चीजों के स्वीकार पर टिकी



होती है। अगर मैं हर चीज पर सवाल उठा रहा हूँ तो मैं पागल हो जाऊंगा। एक दर्शन की किताब-जेन एण्ड द आर्ट ऑफ मोटरसाइकिलिंग - में उसके पात्र का यही हाल होता है। तो शायद हम लोग इस मानवीय द्वंद्व में हैं कि हम लोगों को कुछ चीजों के साथ चलना पड़ता है। अगर हर चीज पर सवाल करेंगे तो मेरी अस्मिता बिखर जाएगी। ये एक अवैयक्तिक किस्म की पहचान है। शायद समुदायों के साथ भी यही द्वंद्व है। अगर सवाल नहीं करेंगे तो भी पिटेंगे, करेंगे तो भी पिटेंगे।

**प्रश्न :** संभवतः सवाल उठाने को आलोचनात्मक चिन्तन में गलत तरह से ग्रहण किया जाता है। आलोचनात्मक चिन्तन में यह भी ख्याल रखना होता है कि बिना परस्पर सहयोग और प्रेम के आप जीवित नहीं रह सकते। यह मुमकिन है कि तमाम विचारों में अपने माता-पिता के साथ मतभेद हों लेकिन ये भी आलोचनात्मक चिन्तन में होना चाहिए कि मतभेदों के साथ भी हमें एक परिवार की जरूरत होती है। तो मुझे लगता है कि इन दोनों विचारों को एक साथ देखे जाने की जरूरत है।

**अमन :** देखिए, दुर्खीम ये बताने की कोशिश नहीं कर रहे हैं कि समाज में होता क्या है। वे तो ये कह रहे हैं कि शिक्षा क्या कर सकती है। ये दो अलग-अलग बातें हैं। आप जो मिसाल दे रहे हैं या हम लोग जो रोज देखते हैं समाज में वह अलग है। एक समाजशास्त्री केवल ये बता सकता है कि क्या किया जाना चाहिए या क्या हो सकता है। अगर मुझसे कहा जाए कि मैं समाजशास्त्र को एक अनुभव और आंकड़ों पर आधारित विषय के रूप में देखूँ तो मैं केवल इसके मायने भर ही बता पाऊंगा। लेकिन हम जानते हैं कि ऐसा करना न तो किसी समाजशास्त्री के लिए संभव है और न ही उसे ऐसा करने की जरूरत है। ऐसा संभव भी नहीं है क्योंकि ऐसे अनुभवों और आंकड़ों का क्या आप करेंगे जिसका कोई अर्थ ही न हो। ये अर्थ व्यवस्था किसी समाजशास्त्री की उसकी अपनी संज्ञानात्मक प्रक्रिया का हिस्सा होती है। तो अगर एक समाजशास्त्री केवल इस बात की ही व्याख्या कर रहा है कि समाज में क्या चल रहा है तब भी उसके कुल काम का एक हिस्सा भर है। इसमें उसके मन में उस समाज के लिए कुछ करुण भाव भी शामिल होता है। आपने सवाल उठाया कि मैं किस तरह के रिश्ते बनाता हूँ ये फील्डवर्क में एक बहुत बड़ा सवाल रहता है। जिस समुदाय का मैं अध्ययन कर रहा हूँ उसके साथ किस तरह का रिश्ता बनाता हूँ। अगर मैं उसको हर तरह से आलोचनात्मक रूप में ही देख रहा हूँ या उससे असहमत होता हूँ तो मैं क्या करूँ किस तरह का अध्ययन करूँ ? कभी-कभी हम एक रोल मॉडल बनाकर कोशिश करते हैं कि कम से कम उस समुदाय के मूल्यों से जुड़कर उनसे बात करती चाहिए और मुझे उसमें कुछ दिक्कतें हो सकती हैं और उनके बारे में हम या तो उस समय

चुप रह सकते हैं या उनसे उन बातों पर शांति से चर्चा कर सकते हैं या आवेश में आकर बात कर सकते हैं। कभी-कभी ये भी संभव नहीं होता है। ये भी एक दिक्कत है। लेकिन क्या समाजशास्त्री के लिए इतना भर बता देना काफी है कि समाज में लोग जो कर रहे हैं, उसमें फलां-फलां बात को लेकर नैतिक दिक्कतें हैं। और फिर ऐसा करने से हासिल क्या होगा और किस उद्देश्य की पूर्ति करेगा ? इसे तो इससे आगे जाना ही होगा। मैं जिस तरह के समाजशास्त्र की पैरवी कर रहा हूँ वह इन विश्लेषणों और वर्णनों को लेकर मैं किसी व्याख्यात्मक और रचनात्मक चौखटे में रखकर देखूंगा कि वे कौन-सी परिस्थितियां थीं जिससे ऐसी स्थिति पैदा हुई। और अगर लगता है कि उस समाज में ऐसा नहीं होना चाहिए था तो क्या कदम उठाए जाने की जरूरत है। किस तरह की पहलकदमी चाहिए। इसके लिए एक समय सीमा भी तय करनी होगी।

आप जानते हैं कि आपके मन में सामजशास्त्र को लेकर जिस तरह की शंका है वैसी बहुत से लोगों के मन में होगी। बहुत समय तक अनुशासन के रूप में सामजशास्त्र को शक्तिशाली लोगों का अस्त्र माना जाता रहा है। मैंने सिग्मंड बाउमन का जिक्र किया था, उनकी एक सुन्दर किताब है जिसका नाम है- टुवर्ड्स अ क्रिटिकल सोशॉलॉजी। इसमें वे एक बात कहते हैं कि अगर सारे समाजशास्त्री यही बताने लग जाएं कि लोग किस तरह से काम करते रहते हैं तो इस तरह के समाजशास्त्र को वे परतंत्रता का समाजशास्त्र कहेंगे क्योंकि इस तरह का समाजशास्त्र परतंत्रता को बढ़ावा देगा। और अगर समाजशास्त्री खुद से ये सवाल पूछेंगे कि किन परिस्थितियों में ऐसा हो रहा है तो इसमें संभावनाओं को तलाशने की जगह बनती है। हम कह सकते हैं कि हमारे समाज में लोग इस तरह से रहते हैं तो ये-ये स्थितियां भी संभव हैं जिसमें इंसान कुछ और करेगा। यही आलोचनात्मक समाजशास्त्र है। इस तरह का समाजशास्त्र करने की कोशिश लोगों को करनी चाहिए। इसके मायने ये होंगे कि सामजशास्त्री दूर बैठा दर्शक न होकर सामाजिक संबंधों में भागीदारी करते हुए ऐसे निर्णय लेगा जो उस समाज के पक्षधर ही होंगे। लेकिन इसमें भी एक समस्या है जिसे मैं खुद अभी तक हल नहीं कर पाया हूँ। वह ये कि अगर मैं ऐसा निर्णय लेता हूँ जो उस समाज के हित में है और मैं एक प्रतिबद्ध सामजशास्त्री हूँ तो वस्तुनिष्ठता का जो मेरा आदर्श है उसके साथ कितना समझौता करना पड़ेगा? मुझे अभी इसका हल खोजना है। इस तरह का समाजशास्त्र हमें गरीब से जुड़कर काम करने के लिए प्रेरित करता है और ये मुझे एक अन्तर्दृष्टि देता है जो नैतिक रूप से भी बेहतर होगी। लेकिन सत्य के मेरे जो आदर्श हैं उनका क्या करें ? क्या सत्य का मेरा आदर्श गलत है ? इसमें कुछ गड़बड़ है। क्या मैं चीजों को गलत ढंग से देख रहा हूँ ? ये फिर हमें एक पक्षधरता की ओर ले जाएगी। ये समस्या मेरे लिए

भी एक समस्या ही है। मैं इसका कोई हल नहीं खोज पाया हूँ। ये हर प्रतिबद्ध सामजशास्त्री की समस्या है।

**प्रश्न :** सामान्य रूप से एक व्यक्ति जो इस समाज में पैदा हुआ और समाज में रहता है उसका सीखना दो तरीके से होता है। एक तो वह समाज और परिवार में रहते हुए सीखता है जिसे हम अनौपचारिक सीखना कहते हैं। दूसरी तरह से सीखना स्कूल में जाकर होता है जिसे औपचारिक सीखना कहते हैं। लेकिन ये देखा जाता है कि इस प्रक्रिया में शिक्षा व्यवस्था और समाज में द्वंद्व पैदा हो जाता है। उदाहरण के लिए, हमारी औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में कहा जाता है कि छुआछूत या जाति के आधार पर भेद-भाव करना उचित नहीं है। लेकिन ये दोनों चीजें हमारे समाज में मौजूद हैं। ऐसी स्थिति में औपचारिक रूप से सीखने और अनौपचारिक रूप से सीखने में द्वंद्व पैदा हो जाता है। उसका बच्चे या व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है ? समाज विज्ञानी के नजरिए से उसको देखें तो आप क्या कहेंगे ?

**अमन :** सबसे पहले तो ये देखें कि ये द्वंद्व है क्यों ? ये इस वजह से है कि हम एक ऐसे जटिल समाज में रह रहे हैं जिसमें अनेक प्रकार की भिन्नताएं मौजूद हैं। सरकार मौजूद संभव स्थितियों में से एक संभव स्थिति को चुनती है और ये संभव है कि किसी समुदाय को सरकार की स्थिति किसी दूसरे समुदाय के मूल्यों की पक्षधर और अपने मूल्यों के खिलाफ लगे। और ऐसा अक्सर होता है कि सरकार जिन मूल्यों को मानती है वह समुदायों के उन मूल्यों से अलग होते हैं जिसके लिए वे प्रतिबद्ध हैं। इसका एक दृष्टिकोण जो एकल संस्कृति वाले पश्चिमी राष्ट्रों ने दिया है वह ये है कि राज्य उस पक्ष को अपना मानेगा जिस पर राज्य की अपेक्षित संस्कृति के रूप में सहमति के आसार हों और राज्य उसे ही आगे बढ़ाएगा। लेकिन जब हम किसी बहु-सांस्कृतिक समाज की बात करते हैं वहां सहमति बना पाना एक मुश्किल काम हो जाता है। देखिए, अगर हम ये मानकर चलें कि जिस पर सहमति बनेगी वही सिखाएंगे, तो पहले हमें सहमति बनानी होगी। किसी लम्बे संवाद और आत्मावलोकन में जाने के बजाए जब हम पाते हैं कि राज्य पहले से ही एक पक्षधरता ले चुका है और उसको प्रचारित कर रहा है। भारतीय संदर्भ में हम जानते हैं कि राज्य के एजेण्डे तथा मूल्यों और लोगों के मूल्यों के बीच में फांक है। और ये क्यों है ? इसका कारण महज संस्कृतियों के बीच गहरे भेद, अनेक प्रकार के समुदायों और राज्य में शामिल लोगों के अपने व राजनैतिक हित हैं। लेकिन सवाल ये है कि सही कौन है ? मान लें कि राज्य ही सही है तो वह अपने एजेण्डे को कैसे प्रचारित करेगा ? ये वे सवाल नहीं हैं जिन पर राज्य बात करना चाहेगा। शिक्षा की विशद व्याख्या ये है कि समुदाय उसे कैसे देखता है बजाए इसके कि वह लोगों को नौकरी मुहैया कराने का जरिया बने। लेकिन शिक्षा के नैतिक उद्देश्यों का सवाल फिर भी छूट जाता है। सही क्या

है ? जैसे अधिकांश समुदाय देखते हैं या जैसे राज्य देखता है ? क्या राज्य की भूमिका अभिभावक की तरह होनी चाहिए और समुदायों की समझदारी को दुरुस्त करने का काम उसे करना चाहिए ? क्या ये ठीक होगा ? अब आपको हमारी शिक्षा की अपर्याप्तता का अंदाजा हो रहा होगा। मैं नैतिक और राजनैतिक दर्शन में अल्पज्ञ हूँ। और इसलिए ये मेरे लिए एक अनसुलझा प्रश्न है। ये सवाल राजनैतिक दर्शन के द्वारा ही हल किया जाना चाहिए। और राज्य को क्या करना चाहिए ? शायद जब मैं बूढ़ा हो जाऊंगा तब इस सवाल का जवाब खोज सकूँ।

लेकिन मैं कई असंगतियों को इंगित जरूर कर सकता हूँ। राज्य की लोकतंत्र के बारे में समझ को लेकर मुझे असंगति लगती है। कम से कम जिस तरह से लोग लोकतंत्र को लेकर बात करते हैं उससे तो ऐसा ही लगता है। लोकतंत्र का एक रूप तो ये हो सकता है कि जनता सरकार चुनती है, लेकिन अगर आप थोड़ा-सा विस्तार में जाएंगे तो आप देखेंगे कि राज्य जो कुछ कर रहा है उसमें लोगों की कुछ तो भागीदारी होनी ही चाहिए और राज्य और उनके बीच एक संवाद की स्थिति होनी चाहिए। और ये नहीं हो रहा है।

**प्रश्न :** हां, जैसे कि हमने लोकतंत्र को राजनीतिक व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया है न कि एक मूल्य व्यवस्था के रूप में।

**अमन :** हां, एक राजनीतिक व्यवस्था के रूप में जो राज्य को एक वैधानिकता प्रदान करता है। देखिए, ये लोकतंत्र का उदार रूप है। लोकतंत्र के कई रूपों में से एक ये है कि हमें संवाद के तरीके तलाशने होंगे। संवाद करें तो किससे और कैसे ? ये अभी एक सवाल ही है कि राज्य किसी संस्कृति या किसी गांव के साथ संवाद कैसे स्थापित करे ? इसका जवाब मुझे नहीं पता। लेकिन इसके बगैर तो जो भी होगा वह एक संस्कृति को दूसरे पर थोपना ही होगा। और इस समस्या का हल तो खोजना ही होगा।

मैंने आपके साथ शेयर नहीं किया लेकिन मेरा एकलव्य के साथ जो काम था वह इसी मुद्दे पर था। दरअसल ये एक बड़े एजेण्डे का एक हिस्सा था। एजेण्डा था लोक समुदाय के बारे में पुनर्विचार। जब बातचीत को लोकतंत्र से शुरू करने की कोशिश की तो इस बात में एक फांक नजर आई कि मनोवैज्ञानिक जिस तरह से किसी अवधारणा को समझते हैं और बच्चे को स्कूल में किसी अवधारणा को कैसे सिखाया जाता है। इसके साथ ही इस बात में भी एक फांक नजर आई कि वयस्क लोकतंत्र को जिस तरह से समझते हैं और हमारा संविधान इसको मूल रूप में जिस तरह से देखता है। अब मुझे लगता है कि मैंने उसे समझने में एक बड़ी गलती की थी जिसे आजकल लोग राजनैतिक संस्कृति कहते हैं। मुझे नहीं पता कि मैंने क्या किया! लेकिन अगर पता होता तो शायद मैं नहीं करता। मैंने महज

## चित्रा न होती

ये देखा कि होशंगाबाद के आसपास का समुदाय संविधान के मौलिक सिद्धांतों-जैसे स्वतंत्रता और समानता-से समझता क्या है ? मेरे अध्ययन से जो समझ में आया वह यह है कि स्थानीय समुदाय स्वतंत्रता को गंभीरता से नहीं लेता। उन्हें स्वतंत्रता के मायने ही नहीं पता है। कुछ युवा लोग स्वतंत्रता की बात करते हैं लेकिन ये वे लोग हैं जिनके पास चुनाव के बहुत से अवसर हैं और साथ ही उनके ऊपर नियंत्रण के लिए उतने ही दबाव भी हैं। उन्हें इससे तकलीफ होती है। वे चाहते हैं कि वे जो करना चाहते हैं उन्हें करने की आजादी होनी चाहिए। ये स्वतंत्रता की उनकी समझ है। लेकिन जब हमने समता के बारे में उनसे बात की तो वे भौंचक रह गए। जातियों में बटे समाज में समता को समझना एक मौलिक समस्या है। जब सबकी अपनी-अपनी जगह तय है तो समता की बात कैसे की जा सकती है ? जाति के भीतर तो समता को समझा जा सकता है लेकिन जातियों के बीच कैसी समता ?

समता उनके लिए एक अजनबी-सा विचार था। ऐसे में कोई क्या करे ? कोई उन्हें नागरिकता कैसे सिखाए ? जो वास्तव में होता है... दरअसल संविधान के बारे में लोगों में एक समझ है। मिसाल के तौर पर स्कूल में क्या होता है ? इस सवाल का एक जवाब एक शिक्षक ने दिया जो एकलव्य की किताबों से परिचित था। उसने उस बात को सीधे पकड़ लिया जो हम कर रहे थे। एकलव्य की किताबें उन बातों को पहले से ही प्रचारित कर रही हैं जिसमें भारतीय संविधान और एकलव्य विश्वास करते हैं। इसलिए उस शिक्षक ने विनम्रतापूर्वक बताया कि इसमें कुछ समस्याएं हैं। वह बातचीत और व्यवहार में हमारे साथ बहुत विनम्र और अच्छा था। उसे लग रहा था कि हम अच्छे लोग हैं लेकिन दिशाभ्रमित हैं। उसने हमसे कहा कि आपने हमें बड़ी अच्छी-अच्छी बातें बताईं। हमने बच्चों को मानवाधिकार पर एक पाठ भी पढ़ाया है और उसमें बताया कि अगर मानवाधिकारों का हनन हो रहा हो तो आप उच्च न्यायालय को पत्र लिख सकते हैं। ये सब बड़ी अच्छी बातें हैं। लेकिन एक बच्चा मेरे पास आता है और बताता है कि मेरे साथ ऐसा-ऐसा हुआ है और मैंने उच्च न्यायालय को पत्र लिखा और दो महीने हो गए कोई जवाब नहीं आया। तो इसका मतलब क्या है ? यह एक संकट है कि जिन मूल्यों को हम वृहत्तर समाज के लिए उचित मानते हैं वे व्यवहारिक रूप में उतनी सहजता से प्राप्त नहीं होते। सही मायने में इन स्थितियों को बदलने का ध्येय ही शिक्षा का होना चाहिए। जैसा कि मैंने आरंभ में कहा शिक्षा सामाजीकरण के साथ आलोचनात्मक चिन्तन की क्षमता का विकास और सशक्तीकरण भी कर सकती है, और शिक्षा को ऐसा करना चाहिए। ◆

इन्हीं गर्मियों की एक दोपहर चित्रा तेरह की हो गई है उससे कुछ पहले अप्रैल की एक सुहावनी सुबह शाम में जब पेड़ों के पत्ते सड़कों पर तैर रहे थे शीला ने पन्द्रह पूरे किए हैं

दोनों बड़ी होनहार हैं आंसू पोंछते हुए कहती है काकी उसे अफसोस है उसने क्यों किया रुदन बेटियों के जन्म पर और काकी ही क्यों, काका भी यही कहते हैं गर्व से भरकर बड़ी होनहार लड़कियां हैं भाई भी यही कहते हैं अड़ौसी-पड़ौसी भी यही कहते हैं गांव में जाते हैं तो काका बाबा बड़े बुजुर्ग सब यही कहते हैं

यदि बोलकर बता सकते पौधे, फूल, पत्तियां मेमने, पिल्ले और मुर्गियां तो वे भी यही कहते बड़ी होनहार हैं ये लड़कियां

इनके जन्म से पहले और तब भी जबकि इनका जन्म हो गया काका-काकी, घरवालों, बाहर वालों सबने की थी इनके न होने की दुआ चित्रा के तो तीन साल की हो जाने तक भी यही कहा जाता रहा दो लड़कियां हो गई थीं बहुत थीं ये तीसरी न होती चित्रा न होती

### प्रभात

हिन्दी साहित्य में एमए, युवा कवि, वर्तमान में स्वतंत्र लेखन रत्न, पानियों की गाड़ियों में (बाल कविता संग्रह), विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं प्रकाशित।

31बी, पुरुषार्थ नगर बी, जगतपुरा, जयपुर-25 राजस्थान